अपराध और कार्रवाई

पिछले कुछ समय से रेलों में लूटपाट जैसी आपराधिक घटनाएं बढ़ने के मद्देनजर केंद्रीय गृहमंत्री ने आदेश दिया है कि ऐसी घटनाओं की आनलाइन शिकायत दर्ज करने की व्यवस्था होनी चाहिए। अभी तक लोगों को अपनी शिकायतें दर्ज कराने के लिए रेलवे पुलिस थाना जाना पड़ता है। वहां शिकायत दर्ज होने के बाद उसे राज्य, जिला और संबंधित थाने को भेजा जाता है। इस प्रक्रिया में प्रायः मामला उलझ जाता है, पीड़ितों को नाहक परेशानियां उठानी पड़ती हैं और उन्हें उचित न्याय नहीं मिल पाता। माना जा रहा है कि इससे न सिर्फ मुसाफिरों को सहूलियत होगी, बल्कि रेल सेवा पर उनका भरोसा भी बढ़ेगा। हालांकि रेलों में जीपीएस, आनलाइन सूचनाएं देने, दुर्घटना के समय संदेश भेजने आदि संबंधी सुविधाएं मुहैया कराने का सुझाव पुराना है। कई साल पहले रेल बजट में हर डिब्बे में ऐसे उपकरण लगाने का प्रस्ताव किया गया था, जिनके जरिए मुसाफिर आपात स्थिति में दूसरे स्टेशनों या फिर मुख्यालय तक संदेश भेज सकें। मगर अभी तक उस दिशा में कोई उत्साहजनक पहल नहीं हो पाई है। यही वजह है कि दुर्घटना या फिर किसी आपराधिक घटना के वक्त समय रहते राहत मुहैया नहीं कराई जा पाती। इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि बिहार में हाल की ट्रेन डकैती करीब दो घंटे तक चली, पर उसे रोकने का कोई उपाय नहीं किया जा सका।

आज तमाम सेवाएं इंटरनेट से जुड़ी तकनीक के सहारे संचालित होने लगी हैं। रेलवे खुद टिकट बुकिंग के मामले में काफी हद तक इस सुविधा का लाभ ले रहा है। रेलवे से जुड़ी जानकारियां उपलब्ध कराने के लिए कई निजी कंपनियों ने अपने सूचना तंत्र विकसित कर लिए हैं, लोग उनका लाभ भी उठा रहे हैं। ऐसे में यह समझना मुश्किल है कि रेल महकमा सुरक्षा संबंधी मामलों में आधुनिक तकनीक का सहारा लेने के प्रति उत्साहित क्यों नहीं है। अब पुलिस थानों में भी आनलाइन यानी घर बैठे इंटरनेट के जरिए बहुत सारी शिकायतें दर्ज कराई जाने लगी हैं। यातायात में इंटरनेट के जरिए सड़कों पर निगरानी रखी जाने लगी है और यातायात नियमों का उल्लंघन करने वालों पर आनलाइन जुर्माना वगैरह भेजा जाने लगा है। पर हैरानी की बात है कि रेलवे पुलिस अब भी पुरानी लीक पर चल रही है।

रेलगाड़ियों में चोरी की घटनाएं आम हैं। कई बार आपराधिक वृत्ति के लोग ट्रेनों में घस कर मारपीट करने से भी बाज नहीं आते। वातानुकूलित डिब्बों में सहायक और सुरक्षाकर्मियों की तैनाती का नियम होने के बावजूद उनमें चोरी की घटनाएं नहीं रुक पा रहीं। रात के वक्त प्रायः रोज मोबाइल फोनों की चोरी होती है। पर यात्री चूंकि सफर में होते हैं, वे गाड़ी से उतर कर रेलवे पुलिस थाने जाने के झंझट में नहीं पड़ना चाहते। उनमें बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं, जिनके मन में पुलिस थाने जाने को लेकर भय बना रहता है। फिर कई लोग सोचते हैं कि पुलिस में शिकायत दर्ज कराने के बाद उन्हें बार-बार अपना काम-धंधा छोड़ कर थाने और अदालत का चक्कर काटना पड़ेगा, उससे नाहक उनका समय बर्बाद होगा। इसके चलते भी आपराधिक मानसिकता वाले लोग बेखौफ होकर रेलों में चोरी, डकैती जैसी घटनाओं को अंजाम देते हैं। ऐसे में अगर रेलों में ऐसी सूचना प्रणाली लगाई जाए, जिससे न सिर्फ मुसाफिर शिकायतें दर्ज करा सकें, बल्कि अपराधियों को पकड़ने में भी मदद मिले, तो रेल सेवाओं के प्रति निस्संदेह लोगों में विश्वास बढ़ेगा।

🚁 र साल सर्दी में सरकार बेघर लोगों के लिए रैनबसेरा या आश्रय 🕑 मुहैया कराने का आश्वासन देती है। कुछ तात्कालिक उपाय किए भी जाते हैं। पर लगता है कि इस तरह की औपचारिक गतिविधियों का असर सीमित ही रहता है। वरना क्या वजह है कि राहत पहुंचाने के तमाम दावों के बावजूद ठंड की मार से मरने वालों की तादाद चिंताजनक आंकड़े तक पहुंच जाती है। मसलन, इस साल महज दो हफ्ते के दौरान छियानबे लोगों की जान इसलिए चली गई कि वे बेघर थे और उनके पास ठंड से बचने के न्यूनतम इंतजाम भी नहीं थे। यहां यह सोचने की जरूरत है कि हमारी सरकारों की नजर में बेहद गरीब लोगों के लिए क्या जगह है और उनके लिए बनाई नीतियों और समाज कल्याण कार्यक्रमों की जमीनी हकीकत क्या है। परेशान करने वाली यह रिपोर्ट एक गैरसरकारी संगठन सीएचडी यानी सेंटर फॉर होलिस्टिक डेवलपमेंट के एक अध्ययन में सामने आई है। सीएचडी का कहना है कि ये आंकड़े दरअसल गृह मंत्रालय की वेबसाइट से निकलवाए गए हैं। यों संगठन के आंकड़ों के मुताबिक पिछले साल दिसंबर से लेकर अब तक कुल सवा तीन सौ से ज्यादा लोगों की मौत ठंड से हो चुकी है।

ये सब लोग बेघर थे, जो राजधानी दिल्ली में काम की तलाश में आ जाते हैं। दिल्ली देश की राजधानी है और अगर यहां हालत यह है तो देश के बाकी हिस्सों में ऐसे बेघर लोगों की मुश्किलों का सिर्फ अंदाजा ही लगाया जा सकता है। ऐसे तमाम लोग हैं जो सिर्फ इसलिए अपने गांव या दूरदराज के इलाकों से दिल्ली जैसे शहरों या महानगरों में आ जाते हैं, ताकि खुद या अपने परिवार के जिंदा भर रह सकने लायक कुछ कमा सकें। लेकिन चूंकि उनके पास कोई ठिकाना नहीं होता है, इसलिए खुले आसमान के नीचे रात गुजारना उनकी मजबूरी होती है। गरमी या दूसरे मौसम में तो किसी तरह उनका वक्त कट जाता है, लेकिन कड़ाके की ठंड में एक रात का सुरक्षित निकल जाना उनके लिए असीम राहत का मामला होता है। ठंड में ऐसी जानलेवा चुनौती का सामना करने वाले लोगों की तादाद लाखों में है। सवाल है कि अगर इन निराश्रित लोगों के सामने अभाव एक लाचारी है, तो एक कल्याणकारी मूल्यों पर चलने वाली लोकतांत्रिक सरकार की क्या जिम्मेदारी बनती है?

तकरीबन सात साल पहले सुप्रीम कोर्ट ने इस मसले पर सभी राज्य सरकारों को साफ शब्दों में निर्देश दिया था कि कड़ाके की ठंड की वजह से एक भी व्यक्ति की मौत नहीं होनी चाहिए। इसके लिए सरकारें बेघर लोगों के बचाव के लिए रैनबसेरों की समुचित व्यवस्था करें। लेकिन ऐसा लगता है कि इस तरह के हर मामले में औपचारिकता पूरी कर लेने को सरकार काफी मानती है। गरीबी और अभाव से दो-चार लोगों की मुश्किलों का हल सरकार की प्राथमिकता सूची में शामिल नहीं हो पाता है। यह बेवजह नहीं है कि अमूमन हर साल कड़ाके की ठंड की मार से काफी तादाद में लोगों की जान चली जाती है। जबिक अकेले पर्याप्त रैनबसेरों का इंतजाम ही बहुत सारे लोगों को मौत के मुंह में जाने से बचा सकता है। कंबल या गर्म कपड़े मुहैया करा कर भी बहुत सारे लोगों का जीवन आरामदेह बनाया जा सकता है। यह एक सभ्य और संवेदनशील समाज के लिए मानवीयता का तकाजा है। सरकारों की यह जिम्मेदारी है कि वह ऐसे इंतजाम करे, ताकि एक भी व्यक्ति की मौत मौसम की वजह से न हो।

कल्पमधा

यह दुनिया दुर्जनों की दुष्टता की वजह से उतनी पीड़ित नहीं है जितनी कि सज्जनों की निष्क्रियता के मारे पीड़ित है। -रोम्यां रोलां

खनन हादसों में दबे सवाल

अभिषेक कुमार सिंह

खनन प्रभावित लोगों को बचाने के लिए कानूनों की कमी नहीं है, समस्या उन्हें लागू करने की है। खनन माफिया और राजनीतिक गढजोड़ के चलते ही ऐसे कानूनों की अनदेखी होती है, जिसका नतीजा है कि देश में अधिकृत दो हजार छह सौ खनन गतिविधियों में मानवाधिकार और पर्यावरण सुरक्षा को भारतीय कानूनों के अनुरूप सुनिश्चित करने में सरकार की पूरी व्यवस्था ही विफल हो गई है।

ाक तरफ जब उत्तर प्रदेश में खनन घोटाले को 🥇 लेकर सियासी माहौल गरमाया हुआ है, देश के सुदूर उत्तर-पूर्व में महीने भर पहले हुए खदान हादसे को देख कर लगता ही नहीं है कि वहां फंसे पंद्रह मजदुरों की किसी को कोई फिक्र भी है। मेघालय के जयंतिया हिल्स जिले के एक गांव शान के नजदीक तीन सौ सत्तर फीट गहरी अवैध कोयला खदान पानी भरने के कारण धंस गई थी और उसमें ये मजदूर फंस गए थे। एक तो इस हादसे की सूचना ही देर से मिली, फिर उसके बाद बचाव कार्य भी इतनी सुस्ती के साथ शुरू किए गए जिससे यही साफ हुआ कि बेहद निचले तबके से आने वाले पंद्रह मजदूरों की जान की परवाह किसी को नहीं थी। वरना क्या वजह थी कि जब यह मामला सुप्रीम कोर्ट में गया और उसने भी राज्य सरकार को फटकार लगाते हुए कहा कि मजदूरों की जान बचाने को एक-एक सेकंड कीमती है, उसके बावजूद उन मजदूरों का अब तक कोई सुराग तक नहीं मिला है।

मेघालय के इस खान हादसे को एक महीना बीत गया है। अब यह अंदाजा लगाना मुश्किल नहीं है कि आखिर उन मजदुरों का क्या हुआ होगा। यह मामला जहां हमारी सामाजिक-राजनीतिक संवेदना पर कुठाराघात है, वहीं इससे यह सवाल भी उठा है कि आखिर हमारे देश में खनन उद्योग को लेकर इतने कुहासे क्यों छाए हुए हैं। खासतौर से यह देखते हुए कि एक तरफ यह उद्योग भारी भ्रष्टाचार को जन्म दे रहा है, तो दूसरी ओर इसमें काम करने वाले मजदूरों के हितों की किसी को कोई परवाह ही नहीं है। मेघालय की रैट होल खदान में मजदूरों के साथ जो हादसा हुआ है, वह कोई नया नहीं है। यहां पहले भी ऐसी दुर्घटनाएं हुई हैं। एक हादसा 1992 में मेघालय के दक्षिण गारो हिल्स जिले में हुआ था, तब तीस मजदूर खदान के अंदर फंस गए थे और उनमें से आधे मारे गए थे। इसी जिले में 2012 में खदान के अंदर फंसे चौदह बाल मजदूरों की

लाशों को आज तक नहीं निकाला जा सका। अवैध खनन के कारण इस पर्वतीय राज्य के नष्ट होते पर्यावरण और नदियों की दुर्दशा के मद्देनजर राष्ट्रीय हरित पंचाट (एनजीटी) ने अप्रैल 2014 से वहां कोयला खनन और ढुलाई पर रोक लगा दी थी। इसके बावजूद अवैध ढंग से वहां खनन कार्य होता रहा और पर्याप्त सुरक्षा के बिना मजदूरों को खदानों में भेजा जाता रहा है। रैट होल खदानों से कोयला निकालने की क्या मजबूरी है और ये खानें इतनी जोखिमपूर्ण क्यों हैं, इसके जवाब यहां की सामाजिक और भौगोलिक संरचनाओं में छिपे हैं। असल में, बेरोजगारी की मार से जुझ रहे

मेघालय के ज्यादातर ग्रामीण इलाकों के अलावा कोई रोजगार नहीं है। ऐसे में वे खतरनाक अवैध खदानों में काम करने को मजबूर हैं। स्थानीय युवाओं के अलावा कोयले की इन खानों में उतारने के लिए नेपाल और पड़ोसी राज्यों से बच्चे बाल मजदूर के रूप में लाए जाते रहे हैं।

यहां अरसे से कोयला माफिया सत्ता पर हावी रहा है, इसलिए इसके आतंक के आगे हर कोई चुप है। हालत यह है कि जयंतिया हिल्स इलाके में ही पांच हजार से ज्यादा अवैध कोयला खानें हैं, लेकिन उन पर प्रशासन का कोई नियंत्रण नहीं है। ऐसे में जब तक कोई बहुत ही बड़ा मामला न हो, तब तक उसकी पुलिस में रिपोर्ट भी नहीं लिखी जाती।

कोयला खदान मालिकों की राज्य की सत्ता पर पकड का अंदाजा इस तथ्य से हो जाता है कि 2014 के विधानसभा चुनाव मैदान में उतरे राजनेताओं में से तीस फीसद या तो कोयला खदान मालिक ही थे या फिर ये कोयला ढुलाई के धंधे में थे। इनमें से ज्यादातर ने चुनाव में जीत हासिल की थी। कोयले का परिवहन मेघालय में एक अहम मसला इसलिए है कि एनजीटी ने 2014 में जब अवैध खनन पर रोक लगाई थी, तो राज्य सरकार से यह सुनिश्चित करने को कहा था कि वह देखे कि अप्रैल 2014 के बाद इन खदानों से निकाले गए कोयले की ढ़लाई न होने पाए। यह व्यवस्था इसीलिए की गई थी ताकि अवैध खदानों से कोयला न निकाला जाए। इस आदेश से बचने के लिए कोयला माफिया घूस देकर लदान वाले ट्रकों के जो चालान बनवाता है. उन पर दर्ज किया जाता है कि इस कोयले का



युवाओं के पास कोयला खदानों में काम करने के 2014 से पहले खनन किया गया था। मेघालय से असम के कछार और करीमगंज जिले तक और फिर त्रिपुरा और बांग्लादेश तक, इसी तरह मेघालय से कार्बी आंगलांग, धरमतुल, जागीरोड, जोराबाट और अन्य स्थानों तक कोयले से लंदे ट्रकों को नकली चालान के जरिए भेजा जाता है।

> सवाल है कि मेघालय में कोयला खनन की ऐसी मजबूरी क्या है, जबिक सल्फर की बहुतायत वाला मेघालय का कोयला घटिया गुणवत्ता का होता है और इसकी कीमत भी कम मिलती है। असल में इन सवालों का एक बड़ा जवाब यही है कि इस राज्य में दूसरे ऐसे उद्योग धंधे नहीं हैं जिनसे मालिकों को अच्छी कमाई हो सके और उनमें काम करने वाले

श्रमिकों की भी आर्थिक स्थिति अच्छी हो सके। इसमें भी संदेह नहीं है कि मेघालय में एनजीटी द्वारा प्रतिबंध के बाद लोगों की आर्थिक स्थिति खराब हो गई, जिसके बाद खदान मालिकों ने अवैध ढंग से कोयला निकालने का काम शुरू कर दिया।

मेघालय के मुख्यमंत्री कोनरॉड संगमा ने इसी तथ्य के मद्देनजर कोयला खनन पर लगी पाबंदी के मुद्दे का हल खोजने की कोशिश की बात कही थी। हालांकि उन्होंने इसके लिए कानूनी प्रक्रिया अपनाने की बात उठाई थी। इसकी वजह यह है कि ऐसा करने में खर्च है, क्योंकि इसके लिए पर्याप्त उपकरणों की जरूरत होती है, मजदूरों की सुरक्षा के नियम-कायदे अपनाए जाते हैं और इसमें खनन के लिए बंद घोषित खदानों को छुआ नहीं जाता है। मेघालय सरकार को कोयला खनन से सालाना सात सौ करोड़ रुपए का राजस्व मिलता है। ऐसे में यदि

कानून सम्मत प्रक्रिया अपनाई जाती है तो खर्च और कमाई का यह आंकडा काफी हद तक बदल जाएगा। इसीलिए कोई सरकार कानूनी प्रक्रिया पर आगे नहीं बढना चाहती है।

रैट होल खदानें पारंपरिक खदानों के मुकाबले बेहद संकरी और चूहों के बिल की तरह होती हैं जिनमें श्रमिक लेट कर घुसते हैं और कोयला निकालते हैं। ये मजदूर अंदर जाकर तब तक खुदाई करते हैं, जब तक कि कोयले की परत नहीं मिल जाती है। कोयला नहीं मिलने की सूरत में मजदूर खुदाई करते हुए 100 से 400 फीट की गहराई में भी चले जाते हैं, जहां खदान धंसने की स्थिति में उनकी जान खतरे में पड़ जाती है। बहरहाल, अब ज्यादा बड़ी चिंता यह है कि मेघालय हादसे से ऐसा क्या सबक लिया जाए कि भविष्य में ऐसे हादसों की पुनरावृत्ति न हो। खनन प्रभावित लोगों को

बचाने के लिए कानूनों की कमी नहीं है, समस्या उन्हें लागु करने की है। खनन माफिया और राजनीतिक गठजोड़ के चलते ही ऐसे कानूनों की अनदेखी होती है. जिसका नतीजा है कि देश में अधिकृत दो हजार छह सौ खनन गतिविधियों में मानवाधिकार और पर्यावरण सुरक्षा को भारतीय कानुनों के अनुरूप सुनिश्चित करने में सरकार की पूरी व्यवस्था ही विफल हो गई है। भारत में खनन व्यवसाय को नियंत्रित करने के बारे में बने ज्यादातर कानून 1950 के दशक के हैं और वे आज की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं रह गए हैं। अब जरूरी है कि सरकार कानूनों को ठीक तरह से लागू करे और खनन गतिविधियों की समुचित निगरानी करे।

अराजक रसूख

संजय टाकुर

आप और खास के फर्क को देखना हो तो 'बंधित मार्गों के शहर' शिमला के 'सामान्य' आचार-व्यवहार के नियमों में देखा जा सकता है। सडकों पर चलने के सामान्य नियम तो यहां भी वही हैं जो देश के दूसरे क्षेत्रों में हैं, लेकिन बात वाहन ले जाने की हो तो यहां के नियम जरा हट कर हैं। राष्ट्रीय उच्च मार्ग और कार्ट रोड जे नाम से प्रचलित एक मार्ग को छोड़ कर शिमला शहर के शेष सभी मार्ग वाहनों की दुष्टि से बंधित मार्ग हैं। विशेष परिस्थितियों में इन मार्गों पर वाहनों की आवाजाही के लिए परिमट सुविधा दी गई है, जिसके लिए भारी फीस वसूली जाती है। शहर को साफ-सूथरा और यहां की सड़कों को पैदल चलने वालों के लिए सुरक्षित रखने की दृष्टि से यह एक अच्छा विचार है, लेकिन यह बात तब अखरती है जब मार्ग-बंधन के ये नियम धन और शक्ति के आगे धरे के धरे रह जाते हैं। कोई भी व्यक्ति धन, प्रशासन या सत्ता का रसुख दिखा कर नियमों की धज्जियां उड़ाता इन मार्गों पर कहीं भी वाहन दौडा सकता है। इस तरह ये नियम आम आदमी के लिए ही रह जाते हैं। आम लोगों के लिए परिमट का यह नियम कहीं

भी लागू कर दिया जाता है। लेकिन बात धन, प्रशासन या सत्ता के रसूख की हो तो इन नियमों का कोई महत्त्व नहीं। धन का प्रभाव रखने वाला, प्रशासन से संबद्ध या सत्ताधारी दल से जुड़ा कोई भी व्यक्ति हो तो ड्यूटी पर तैनात पुलिसकर्मियों द्वारा उसके लिए बैरिकेड्स तुरंत खोल दिए जाते हैं। सामान्य तौर पर तो आपातकाल की स्थिति में भी किसी मरीज को बंधित मार्ग से वाहन द्वारा ले जाना मुश्किल हो जाए,

क्योंकि ऐसी ही किसी सामान्य परिस्थिति में पुलिसकर्मी को अपने पद के 'प्रभाव' का इस्तेमाल करने का अवसर मिल जाता है। दूसरे

प्रभावी लोग तो उसके 'प्रभाव' को किनारे कर आसानी से निकल जाते हैं। यहां तक कि तथाकथित रसुख वाले कुछ लोग वाहन व्यस्त लक्कड़ बाजार से होते हुए ऐतिहासिक महत्त्व के स्थान रिज मैदान के आसपास तक ले आते हैं। कछ लोग तो मनाही वाली जगहों तक अपने वाहन लेकर चले जाते हैं और उन्हें कहीं भी बेखौफ खड़े कर देते हैं। जबकि इन स्थानों के लिए किसी प्रकार का परिमट भी जारी नहीं होता। बंधित मार्गों के शहर शिमला का एक व्यस्त ऐसा

ही मार्ग है मुख्य बस अड्डा की तरफ से संग्राहक-कार्यालय होते हुए मालरोड तक जाने वाला मार्ग। इस

मार्ग पर संग्राहक-कार्यालय के होने से तो वाहनों की आवाजाही रहती ही है, लेकिन वाहनों की ज्यादा संख्या मालरोड घूमने जाने वाले लोगों की वजह से है। यहीं उपायुक्त कार्यालय से मालरोड की तरफ पार्किंग सुविधा भी है। यहां वकीलों के लिए बाकायदा अलग से पार्किंग सुविधा उपलब्ध कराई गई है। यह बात और है कि ऐसी सुविधा उपलब्ध कराने का न तो कोई प्रशासनिक नियम है और न ही सरकार की कोई विशेष नीति। इस स्वयंभू

दुनिया मेरे आगे व्यक्ति किसी वकील के वाहन से मालरोड घुमने जा सकता है, चाहे संग्राहक-कार्यालय किसी काम से जाने वाले किसी व्यक्ति को वाहन सुविधा से वंचित ही कर दिया जाए। वकीलों के परिजन इस सुविधा का भरपूर सुख उठाते हैं।

सुविधा के अंतर्गत कोई भी

शिमला के बंधित मार्गों पर वाहन दौड़ाने के लिए कुछ लोग अपने वाहनों पर 'प्रेस' या 'पुलिस' लिखवा लेते हैं। हालांकि ऐसे वाहनों का न तो प्रेस से कोई लेना-देना होता है और न पुलिस से। मगर ऐसे वाहन बड़ी शान से शिमला शहर के बंधित मार्गों पर दौड़ाए जाते हैं और इन वाहनों से जब लोग मालरोड घूमने जाते हैं तो इन्हें ऐसे स्थानों पर खड़ा किया जाता है, जहां किसी के लिए भी पार्किंग-सविधा नहीं है। ऐसे बहुत-से वाहन लक्कड़ बाजार और संग्राहक-कार्यालय के आसपास खड़े देखे जा सकते हैं। फिर भी उन्हें रोकने-टोकने वाला नहीं दिखता।

एक बार किसी व्यक्ति ने प्रशासनिक व्यवस्था की ऐसी खामियों के चलते शिमला के बंधित मार्गों को सभी लोगों के वाहनों की आवाजाही के लिए खोलने की मांग करते हुए उच्च न्यायालय में एक जनहित याचिका दायर की थी। इस पर उच्च न्यायालय ने यहां के सभी बंधित मार्गों पर वाहनों की पाबंदी को हटा दिया था। यहां तक कि यहां के प्रसिद्ध स्थान मालरोड को भी वाहनों के लिए खोल दिया गया था। यह व्यवस्था कुछ घंटे ही रही, क्योंकि शिमला शहर के ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए इसकी ऐतिहासिक अस्मिता को बचाए रखने का भी प्रश्न था। यह बात और है कि धन, प्रशासन और सत्ता के रसुख के आगे वह ऐतिहासिक अस्मिता तो हर दिन खंडित होती है। इस तरह से ऐतिहासिक महत्त्व का यह शहर 'आम' और 'खास' लोगों में बंट कर रह गया है। आम लोग वे, जिन्हें कायदे-कानून का पालन करना है और खास वे लोग, जिनके लिए कायदे-कानून नहीं हैं। अब देखना यह है कि यहां का प्रशासन 'आम' और 'खास' के इस फर्क को और कितना बढने देता है।

मुनाफे का इलाज

भारत में चिकित्सा, खासकर दवाइयों के क्षेत्र में विदेशी कंपनियों का बोलबाला है। दवा बनाने वाली कंपनियां अपने प्रतिनिधियों के जरिए डॉक्टरों को अपनी ब्रांडेड दवा लिखने के लिए खासे लाभ देती हैं। इसी आधार पर डॉक्टरों के नजदीकी मेडिकल स्टोर को दवा की आपूर्ति होती है। दवा विक्रेताओं को भी ब्रांडेड दवाओं की बिक्री पर कमीशन मिलता है। यही वजह है कि ब्रांडेड दवाओं का कारोबार दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है। विदेशी व निजी कंपनियां दवाइयों के अनुसंधान, पेटेंट और विज्ञापन पर बड़ी रकम खर्च करती हैं, जिसके कारण दवाओं का दाम बढ़ जाता है और इसका सबसे अधिक असर आम जनता पर हो रहा है।

राहत की बात यह है कि इस महंगाई से बचने का सुगम विकल्प उपलब्ध है। यह विकल्प है, जेनेरिक दवाइयां। जेनेरिक दवाइयां ब्रांडेड या फार्मा की दवाइयों के मुकाबले सस्ती होती हैं, जबकि प्रभावशाली उनके बराबर ही होती हैं। जेनेरिक दवाइयों को भी बाजार में लाने का लाइसेंस मिलने से पहले गुणवत्ता मानकों की सभी सख्त प्रक्रियाओं से गुजरना होता है। इन दवाओं के प्रचार-प्रसार पर कंपनियां कुछ खर्च नहीं करतीं। जेनेरिक दवाओं के मूल्य निर्धारण पर सरकारी अंकुश होता है, इसलिए वे सस्ती होती हैं, जबिक पेटेंट दवाओं की कीमत कंपनियां खुद तय करती हैं, इसलिए वे महंगी होती हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार यदि डॉक्टर मरीज को जेनेरिक दवाएं लेने की सलाह देने लगें तो केवल धनी देशों में चिकित्सा व्यय में सत्तर प्रतिशत तक कमी आएगी और गरीब देशों के चिकित्सा व्यय में यह कमी और भी ज्यादा होगी। कई बार तो ब्रांडेड और जेनेरिक दवाओं की कीमतों में नब्बे प्रतिशत तक

का फर्क होता है। खास बात यह है कि गुर्दा, पेशाब में जलन, हृदय व दिमाग संबंधी रोग, मधुमेह आदि बीमारियों में तो ब्रांडेड व जेनेरिक दवा की कीमत में बहुत ज्यादा अंतर देखने को मिलता है।

दवाइयां उपलब्ध कराने के लिए भारत सरकार द्वारा 'प्रधानमंत्री जन औषधि योजना' शुरू की गई है। इसमें सरकार द्वारा उच्च गुणवत्ता वाली जेनेरिक दवाइयां बाजार मूल्य से 60 से 70 फीसद कम दाम में जन औषधि स्टोर के जरिए उपलब्ध कराई जा रही हैं। इसके पहले भी इंडियन मेडिकल कॉउंसिल ने 'मॉडल प्रिस्क्रिप्शन एक्ट' के तहत

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-८, सेक्टर-7, नोएडा २०१३०१, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

जेनेरिक दवा लिखने का आदेश दिया था लेकिन डॉक्टरों ने उस पर अमल नहीं किया। दरअसल, भारत में आसमान छूता चिकित्सा खर्च लोगों के लिए रोगों जितना ही जानलेवा साबित होता जा रहा है जिसका तुरंत इलाज किया जाना जरूरी है।

• नीतीश तिवारी, एकेटीयू, लखनऊ सहकारी खेती

यदि लाखों-करोड़ों रुपए की जमीन के मालिक होने, कृषि संपत्ति और कृषि आय कर दायरे से मुक्त होने पर भी खेती लाभ का व्यवसाय नहीं रही है और बार-बार किसानों के लिए बिजली बिल, कर्जमाफी और मुआवजों आदि की नौबत आती है तो 'सबै भुमि सरकार' की तर्ज पर सहकारी या सरकारी खेती की अवधारणा पर विचार किया जाना चाहिए। आज

किसान बुढ़ापे, बीमारी और प्राकृतिक कारणों से नहीं, कर्ज आदि से ही मरता है। यदि कर्ज समस्या बनता है तो दिया ही क्यों जाए? पिछले पांच दशकों से चले आ रहे इस दुष्चक्र के समापन का यही आम जनता को चिकित्सा लाभ व सस्ती एकमात्र उपाय है। गौरतलब है कि कांग्रेस ने ही सहकारिता के नारे 'बिना सहकार नहीं उद्धार' और समाजवादी सोच लागु करने के लिए कृषि सहित सभी राष्ट्रीय औद्योगिक संसाधनों पर सार्वजनिक क्षेत्र के अधिकार के विचार का प्रतिपादन किया था। तब यह पूरी तरह साकार नहीं हो सका था, लिहाजा आज इस पर

पनर्विचार और अमल की आवश्यकता है। राधेश्याम ताम्रकर, ठीकरी, इंदौर

गंगा के साथ

केंद्र में राजग की सरकार बनी तो गंगा की हालत देखते हुए 'नमामि गंगे परियोजना' की शुरुआत की गई। हालांकि चुनाव से पूर्व ही वादा किया गया था कि गंगा को साफ किया जाएगा पर आज पांच साल होने को हैं, गंगा की हालत क्या है, बताने की जरूरत नहीं है। सवाल है कि तमाम सफाई योजनाओं के बाद भी गंगा मैली क्यों है ? नमामि गंगे परियोजना के बाद भी स्थिति में सुधार नहीं होने के क्या कारण हैं? असल में इसका सही ढंग से क्रियान्वयन नहीं हुआ और पैसे का दुरुपयोग किया गया। जब किसी योजना को सिर्फ चुनावी लाभ के

लिए लाया जाता है तो उसका यही हश्र होता है। ऐसा बिल्कुल नहीं होना चाहिए। पाप धोते-धोते गंगा की हालत अब और पाप धोने की नहीं रह गई है। राजनीतिक लाभ के लिए किए गए वादे को पूरा कर ही गंगा के साथ न्याय किया जा सकता है।

🌘 जफर अहमद, रामपुर डेहरू, मधेपुरा, बिहार

समीक्षा की जरूरत

केंद्र सरकार ने सामान्य वर्ग के आर्थिक रूप से कमजोर तबके को शिक्षण संस्थाओं और सरकारी नौकरियों में दस प्रतिशत आरक्षण देकर सराहनीय कार्य किया है। दशकों से आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षण की आवाज उठती रही थी, लेकिन जातीय राजनीति के कारण किसी भी सरकार ने इस पर ध्यान नहीं दिया। होना यह भी चाहिए कि धीरे-धीरे जातीय आरक्षण को आर्थिक आधार में बदल दिया जाए और इस आरक्षण का लाभ पीढ़ी दर पीढ़ी के बजाय केवल दो पीढियों तक सीमित कर दिया जाए। यह कटु सत्य है कि कोई भी आरक्षण किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए अवरोध जैसा होता है, लेकिन सामाजिक समानता के लिए कुछ निश्चित समय तक इसे लागू किया जाना चाहिए

जब संविधान बन रहा था तो तब भी आरक्षण को केवल दस वर्ष के लिए लागू करने की सलाह दी गई थी लेकिन विभिन्न सरकारों ने इसका चुनाव में लाभ लेने के लिए दुरुपयोग किया। आज स्थिति यह बन चुकी है कि कोई भी सरकार या दल जातीय आरक्षण को समाप्त करने की मांग या कार्रवाई तक नहीं कर सकता है और यह जातीय आरक्षण देश के विकास में बाधक चुका है। समय की मांग है कि हर पांच वर्ष के बाद इस जातीय आरक्षण की समीक्षा करके इसमें कुछ निश्चित कमी करने की सभी राजनीतिक दलों में सहमति बने।

सतप्रकाश सनोठिया, रोहिणी, नई दिल्ली